[2005] 3 उम. नि. प. 287

इकबाल सिंह मरवाह

बनाम

मीनाक्षी मरवाह और एक अन्य

11 मार्च, 2005

मुख्य न्यायमूर्ति आर. सी. लाहोटी, न्यायमूर्ति बी. एन. अग्रवाल, न्यायमूर्ति एच. के. सेमा, न्यायमूर्ति जी. पी. माथुर और न्यायमूर्ति पी. के. बालसुब्रह्मण्यन्

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973(1974 का 2) – धारा 195(1)(ख)(ii) – न्यायालय में की किसी कार्यवाही में पेश किए गए या साक्ष्य में दिए गए किसी दस्तावेज के संबंध में किए गए अपराध के लिए अभियोजन – उक्त धारा का लागू होना – उक्त धारा के उपबंध शास्तिक उपबंध नहीं हैं, अतः यथेष्ट (कठोर) अर्थान्वयन का नियम ऐसे मामलों में लागू नहीं होगा और इस प्रकार दस्तावेज को न्यायालय में पेश किए जाने से पूर्व कूटरचित दस्तावेज का पीड़ित व्यक्ति उपचार प्राप्त करने का हकदार नहीं होगा ।

कानूनों का निर्वचन – शास्तिक उपबंध – यथेष्ट (कठोर) अर्थान्वयन का नियम – उक्त नियम सार्वभौमिक रूप में लागू किए जाने का नियम नहीं है और शास्तिक उपबंधों का अर्थान्वयन ऐसी रीति में किया जाना चाहिए जिससे कि रिष्टि का निवारण होने के साथ ही विधानमंडल द्वारा आशयित उद्देश्य की अभिवृद्धि भी हो ।

अपील के तथ्यों के अनुसार प्रत्यर्थी सं. 1 और 2 मृतक निष्पादनकर्ता के भाई हैं और प्रत्यर्थी सं. 1 और 2 क्रमशः उसकी पत्नी और पुत्र हैं । अपीलार्थी सं. 1 ने जिला न्यायाधीश के न्यायालय में प्रोबेट मामला फाइल किया । उक्त आवेदन का प्रत्यर्थियों द्वारा इस आधार पर विरोध किया गया कि निष्पादित विल कूटरचित है । प्रत्यर्थियों के आवेदन पर अपीलार्थी सं. 1 ने जिला न्यायाधीश के न्यायालय में मूल विल फाइल की । तत्पश्चात् प्रत्यर्थियों ने न्यायालय से अपीलार्थी सं. 1 के विरुद्ध दांडिक परिवाद फाइल करने का अनुरोध करते हुए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 340 के अधीन समावेदन किया क्योंकि उसके द्वारा प्रस्तुत विल कूटरचित थी । उक्त आवेदन का उत्तर फाइल किया गया किंतु आवेदन का निपटारा नहीं किया गया । तत्पश्चात् प्रत्यर्थियों में मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के न्यायालय में अपीलार्थियों और उनकी मां के अभियोजन के लिए इस आधार पर कि अपीलार्थियों द्वारा बतायी गई मृतक की विल कूटरचित और बनावटी दस्तावेज है भारतीय दंड संहिता की धारा 192, 193, 463, 464, 465, 467, 469, 471, 499 और 500 के अधीन दांडिक परिवाद फाइल किया । परिवाद में यह कहा गया कि यद्यपि मृतक शिक्षित व्यक्ति था किंतु विल पर उसके अंगूठे के निशान हैं । उसका बैंक में खाता है जिसे वह अपने हस्ताक्षर करके चलाता था । विल के अधीन उसने प्रत्यर्थियों जो कि उसकी पत्नी और पुत्र हैं के साथ-साथ अपनी स्पैस्टिक पुत्री को भी निर्निहित करके अपनी संपूर्ण संपत्ति की अपनी मां के नाम और मां की मृत्यु पर अपने भाइयों और बहिनों के नाम वसीयत कर दी थी । अपीलार्थी सं. 1 को विल का एकमात्र निष्पादक और न्यासी नियुक्त किया गया । विद्वान् मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष परिवादी ने छह साक्षियों की परीक्षा कराई । विद्वान् मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह प्रश्न कि क्या विल वास्तविक या कूटरचित दस्तावेज है प्रोबेट कार्यवाहियों में जिला न्यायाधीश के समक्ष विचाराधीन है और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(i) और (ii) के उपबंध भारतीय दंड संहिता की धारा 192, 193, 463, 464, 471, 475 और 476 के अधीन अपराधों का संज्ञान लेने के लिए वर्जन सृजित करते हैं । उक्त परिवाद को खारिज कर दिया गया । तत्पश्चात् प्रत्यर्थियों ने विद्वान् मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के आदेश के विरुद्ध सेशन न्यायाधीश के समक्ष एक दांडिक पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया । विद्वान् सेशन न्यायाधीश ने सच्चिदानंद सिंह बनाम बिहार राज्य

वाले मामले में इस न्यायालय के दिए गए निर्णय का अवलंब लेते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) में वर्णित वर्जन वहां लागू नहीं होगा जहां दस्तावेज की कूटरचना उक्त दस्तावेज न्यायालय में पेश किए जाने के पहले की गई । तदनुसार पुनरीक्षण आवेदन मंजूर कर लिया गया और मामला मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट को विधि के अनुसार कार्यवाही करने के लिए प्रतिप्रेषित कर दिया गया । अपीलार्थियों ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन आवेदन फाइल करके सेशन न्यायाधीश के आदेश को उच्च न्यायालय में चुनौती दी किंतु उपर्युक्त सच्चिदानंद सिंह वाले मामले में के निर्णय का अनुसरण करते हुए उसे खारिज कर दिया गया । व्यथित होकर अपीलार्थियों ने उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । सुरजीत सिंह बनाम बलबीर सिंह और सच्चिदानंद सिंह बनाम बिहार राज्य वाले दो मामलों में तीन न्यायाधीशों के न्यायपीठ द्वारा सुनाए गए विरोधी निर्णयों को दृष्टिगत करते हुए अपील को मुख्य न्यायमूर्ति की अध्यक्षता वाले पांच न्यायाधीशों के न्यायपीठ को सुनवाई के लिए निर्दिष्ट कर दिया गया । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलों का तदनुसार निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – अब कानूनी उपबंध की स्कीम की परीक्षा की जा सकती है । मोटे तौर पर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 में अपराधों के तीन भिन्न प्रवर्गों की चर्चा है जिन्हें खंड (क), ख(i) और ख(ii) में वर्णित किया गया है और वे (1) लोक सेवकों के विधिपूर्ण प्राधिकार की अवमानना, (2) लोक न्याय के विरुद्ध अपराधों और (3) साक्ष्य में दिए गए दस्तावेजों से संबंधित अपराधों के संबंध में है । खंड (क) में भारतीय दंड संहिता की धारा 172 से 188 जो संहिता के अध्याय 10 में हैं के अन्तर्गत दंडनीय अपराधों की चर्चा है और उक्त अध्याय का शीर्षक 'लोक सेवकों के विधिपूर्ण प्राधिकार के अवमान के विषय में' है । ये ऐसे अपराध हैं जो किसी लोक सेवक के विधिपूर्ण कर्तव्यों के निर्वहन या कृत्यकारिता को सीधे प्रभावित करते हैं । खंड ख(i) में भारतीय दंड संहिता के अध्याय 11 में वर्णित अपराधों के प्रतिनिर्देश है जिसका शीर्षक है 'मिथ्या साक्ष्य और लोक न्याय के विरुद्ध अपराधों के विषय में' । इस खंड में उल्लिखित अपराध मिथ्या साक्ष्य देने या गढ़ने या किसी न्यायिक कार्यवाही में या किसी न्यायालय के समक्ष या किसी लोक सेवक के समक्ष जो ऐसी घोषणा को प्राप्त करने के लिए विधि द्वारा आबद्ध या प्राधिकृत है मिथ्या घोषणा करने से संबंधित हैं और इस खंड में कुछ ऐसे अपराधों का भी उल्लेख है जिनका किसी न्यायालय में कार्यवाहियों से सीधा सह-संबंध है (भारतीय दंड संहिता की धारा 205 और 211) । धारा 195 के दोनों उपबंधों या खंडों की यह स्कीम होने के कारण अर्थात् अपराध ऐसा होना चाहिए जो किसी लोक सेवक के विधिपूर्ण कर्तव्यों के निर्वहन या कृत्यकारिता से सीधे संबंधित हो या प्रभावित करे या जिसका किसी न्यायालय में कार्यवाहियों से सीधा सह-संबंध हो, तो खंड ख(ii) में प्रयुक्त अभिव्यक्ति "जब ऐसे अपराध के बारे में यह अभिकथित है कि वह किसी न्यायालय की कार्यवाही में पेश किए गए या साक्ष्य में दी गई किसी दस्तावेज के बारे में किया गया है" का साधारणतः अर्थ (ऐसे) किसी अपराध के किए जाने से होना चाहिए जो दस्तावेज को वास्तव में न्यायालय में पेश किए जाने या साक्ष्य में दिए जाने के उपरांत किया गया है । ऐसी स्थिति या आकस्मिकता जब इस खंड में यथाउपवर्णित अपराध पहले ही किया जा चुका है और दस्तावेज को न्यायालय में बाद में पेश किया जाए या साक्ष्य में दिया जाए खंड (क)(i) और (ख)(i) और परिणामत: भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 की स्कीम के अनुरूप प्रतीत नहीं होती है । इससे यह उपदर्शित है कि खंड ख(ii) में ऐसी स्थिति अनुध्यात है जब इसमें उपवर्णित अपराध किसी न्यायालय में की कार्यवाही में पेश किए जाने या साक्ष्य में दिए जाने के उपरांत किसी दस्तावेज के संबंध में किए गए हैं । धारा 195 (1) के खंड (ख)(i) और (ख)(ii) में उपवर्णित अपराधों का संज्ञान लिए जाने की बाबत न्यायालय के समक्ष लिखित परिवाद प्रस्तुत किए जाने के लिए आदेश है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 340 और 341 में जो अध्याय 26 में पाई जाती हैं परिवाद फाइल किए जाने और इससे संबद्ध अन्य मामलों की प्रक्रिया वर्णित है । इस अध्याय का शीर्षक है 'न्याय प्रशासन पर प्रभाव डालने वाले अपराधों के बारे में उपबंध' । यद्यपि साधारण नियम के रूप में किसी शीर्षक में प्रयोग की गई भाषा का प्रयोग उस धारा में प्रयुक्त स्पष्ट शब्दों को, जब उनके सामान्य अर्थ के संबंध में कोई संदेह न हो भिन्न प्रभाव देने के लिए नहीं किया जा

सकता है तथापि उन्हें पार्श्विक टिप्पण या मात्र अधिनियमितियों का वर्गीकरण करने के प्रयोजनार्थ अधिनियम में पुरःस्थापित किया गया नहीं माना जा सकता है । वे स्वयं में अधिनियम का महत्वपूर्ण भाग गठित करते हैं और उनका उन धाराओं के जो उनके तुरंत बाद शुरू होती हैं स्पष्टीकरण के रूप में उसी प्रकार अनुशीलन किया जा सकता है जिस प्रकार कि किसी कानून की अधिनियमितियों को स्पष्ट करने के लिए उसकी उद्देशिका का परिशीलन किया जाता है क्योंकि इससे उन धाराओं जो उनके बाद में आरंभ होती हैं की रचना की उस प्रमुख बात का पता चलता है जो उद्देशिका मात्र से स्पष्ट नहीं होती है (देखें क्रेज कृत 'स्टेट्यूट लॉ' सातवां संस्करण, पृष्ठ 207-209) । इस तथ्य से कि न्याय प्रशासन को प्रभावित करने वाले अपराधों के संबंध में न्यायालय द्वारा परिवाद फाइल करने की प्रक्रिया अध्याय 26 में उपबंधित है इस विधायी आशय का स्पष्टतः पता चलता है कि किए जाने वाले अपराध इस प्रकार के होने चाहिएं जो न्याय प्रशासन को सीधे प्रभावित करें अर्थात् जो दस्तावेज न्यायालय में पेश किए जाने या साक्ष्य में दिए जाने के उपरांत किए जाते हैं । किसी दस्तावेज को न्यायालय में पेश किए जाने या साक्ष्य के रूप में दिए जाने के पूर्व किसी समय उसके संबंध में किया गया कोई भी अपराध वास्तव में न्याय प्रशासन को प्रभावित करने वाला अपराध नहीं कहा जा सकता है । (पैरा 10 और 11)

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 190 में यह उपबंधित है कि कोई मजिस्ट्रेट (क) उन तथ्यों का जो, ऐसा अपराध गठित करते हैं, परिवाद प्राप्त होने पर (ख) ऐसे तथ्यों की पुलिस रिपोर्ट पर, (ग) पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी व्यक्ति से प्राप्त इस इत्तिला पर या स्वयं अपनी इस जानकारी पर कि ऐसा अपराध किया गया है, किसी भी अपराध का संज्ञान ले सकता है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 इस साधारण उपबंध का एक प्रकार से अपवाद है और यह इसमें प्रगणित कतिपय प्रकार के अपराधों का संज्ञान लेने की न्यायालय की शक्ति का निषेध सृजित करता है । न्यायालय द्वारा परिवाद फाइल किए जाने की प्रक्रिया जो पुरातन दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1) में अनुध्यात है दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 340 में दी गई है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 340 में प्रयुक्त भाषा को दृष्टिगत करते हुए न्यायालय धारा 195(1)(ख) में निर्दिष्ट अपराध किए जाने के संबंध में परिवाद करने के लिए आबद्ध नहीं है क्योंकि इस धारा में इन शब्दों "न्यायालय की यह राय है कि न्याय के हित में यह समीचीन है" की शर्त रखी गई है । इससे यह दर्शित होता है कि ऐसा अनुक्रम केवल तभी अपनाया जाएगा यदि न्याय के हित में ऐसा अपेक्षित हो, प्रत्येक मामले में नहीं । परिवाद फाइल किए जाने के पहले न्यायालय प्रारंभिक जांच कर सकता है और उस प्रभाव का निष्कर्ष अभिलिखित कर सकता है कि न्याय हित में यह समीचीन है कि धारा 195(1)(ख) में निर्दिष्ट किसी अपराध के संबंध में जांच की जानी चाहिए । इस समीचीनता का निर्णय न्यायालय द्वारा सामान्यतः ऐसी कूटरचना या कूटरचित दस्तावेज द्वारा प्रभावित व्यक्ति को हुई नुकसानी की मात्रा का आकलन करने की बजाय उसके प्रभाव या असर को ध्यान में रखते हुए किया जाएगा जो ऐसा अपराध किए जाने से न्याय प्रशासन पर पड़ा । यह संभव है कि ऐसे कूटरचित दस्तावेज या कूटरचना से किसी व्यक्ति को बहुत ही गंभीर या सारवान् नुकसान इस अर्थ में हो जिससे वह अत्यंत मूल्यवान संपत्ति या हैसियत या उसी प्रकार की किसी अन्य बात से वंचित हो जाए किंतु ऐसा दस्तावेज पेश किए गए या न्यायालय में दिए गए साक्ष्य का मात्र एक भाग हो सकता है जब न्यायालय में प्रचुर मात्रा में साक्ष्य प्रस्तुत किया गया हो किंतु ऐसे साक्ष्य का प्रभाव न्याय प्रशासन की व्यापक संकल्पना पर न्यूनतम होगा । इन परिस्थितियों में न्यायालय परिवाद किए जाने को न्यायहित में समीचीन नहीं मान सकता है । जैसा कि अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा संयाचन की गई, यदि खंड (ख)(ii) को व्यापक रूप में लिया जाए तो ऐसी कूटरचना या कूटरचित दस्तावेज का पीड़ित व्यक्ति उपचार विहीन हो जाएगा । ऐसे किसी भी निर्वचन को जिससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो कि अपराध का पीड़ित व्यक्ति उपचार विहीन हो जाए अपनाया नहीं जाना चाहिए । यह उल्लेख भी किया जा सकता है कि धारा 343(2) के अन्तर्गत पारित किसी आदेश के विरुद्ध अपील का कोई उपबंध नहीं है जिसके द्वारा मामले की सुनवाई अपील में विनिश्चय किए जाने तक स्थगित कर दी जाए । इन उपबंधों से यह उपदर्शित होता है कि न्यायालय द्वारा परिवाद फाइल किए जाने के लिए विहित प्रक्रिया वास्तव में ऐसी

है कि इसमें असाधारणत: लंबी अवधि तक अपराधी का वास्तविक विचारण फलीभूत नहीं हो सकता है । किसी दोषी व्यक्ति के अभियोजन में विलंब उसके लिए लाभदायक होता है क्योंकि साक्षी साक्ष्य देने से हिचकने लगते हैं और साक्ष्य समाप्त हो जाता है । इस महत्वपूर्ण विचार के कारण न्यायालय उस व्यापक निर्वचन को स्वीकार करने को तैयार नहीं है जिसे खंड (ख)(ii) की बाबत लागू करने की ईप्सा की गई है । (पैरा 19, 21 और 22)

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का विस्तृत निर्वचन, जिसके द्वारा उक्त उपबंध द्वारा सृजित वर्जन उस मामले में भी लागू होगा जहां कूटरचना का कार्य किए जाने के उपरांत दस्तावेज को बाद में न्यायालय में पेश किया जाता है और उसका बहुत दुरुपयोग किया जा सकता है । जैसा सच्चिदानंद सिंह वाले मामले में स्पष्ट किया गया कि कूटरचित दस्तावेज तैयार किए जाने या कूटरचना का कार्य करने के उपरांत व्यक्ति किसी कार्यवाही को स्वयं द्वारा या अपने द्वारा लगाए गए किसी व्यक्ति द्वारा किसी सिविल, दांडिक या राजस्व न्यायालय में कार्यवाही संस्थित करवा सकता है और उक्त कार्यवाही में दस्तावेज को सरलता से फाइल कर सकता है । इस प्रकार उसे किसी प्राइवेट पक्षकार या पुलिस के कहने पर अभियोजन से उस समय तक संरक्षण प्राप्त होगा जब तक कि वह न्यायालय, जहां दस्तावेज फाइल किया गया है, स्वयं परिवाद को फाइल करने का निर्णय नहीं लेता है । मुकदमेबाजी दीर्घकालिक हो सकती है जिस कारणवश ऐसे व्यक्ति के वास्तविक विचारण में अनिश्चितकाल के लिए विलंब हो सकता है । ऐसा निर्वचन समाज के व्यापक हित के लिए अत्यधिक घातक होगा । इस तथ्य की न्यायिक अवेक्षा की जा सकती है कि न्यायालय सामान्यत: किसी दांडिक परिवाद फाइल किए जाने का निदेश करने में हिचकते हैं और ऐसा कोई अनुक्रम बिरले ही अपनाया जाता है । ऐसा निर्वचन करना उचित और ऋजु नहीं होगा जिससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जहां खंड (ख)(ii) में उपवर्णित प्रकार के किसी अपराध को अभिकथित रूप से करने वाले व्यक्ति का परिवाद फाइल न किए जाने के कारण विचारण न हो या यदि कोई परिवाद फाइल किया जाता है तो उसकी तर्कसंगत रूप में समाप्ति न हो । ऐसे दृष्टिकोण से निर्णय करना इस सिद्धांत के अनुरूप होगा कि अव्यावहारिक या दुष्कर परिणाम से बचा जाना चाहिए । (पैरा 23 और 24)

इसके अलावा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) जिसका निर्वचन करने की न्यायालय से अपेक्षा की गई है, शास्तिक उपबंध नहीं है अपितु प्रक्रियात्मक विधि अर्थात् दंड प्रक्रिया संहिता का भाग है जिसमें दांडिक मामलों के विचारण के लिए प्रक्रिया दी गई है । इस उपबंध में न्यायालय द्वारा परिवाद फाइल किए जाने को छोड़कर कतिपय विनिर्दिष्ट स्थितियों में अपराध का संज्ञान लेने के विरुद्ध केवल वर्जन सृजित किया गया है । शास्तिक कानून ऐसा कानून होता है जिसके आधार पर शास्ति अधिरोपित किए जाने के लिए किसी लोक अधिकारी द्वारा या किसी व्यथित व्यक्ति द्वारा कार्रवाई की जा सकती है और शास्तिक कार्य में व्यापक अर्थ में ऐसा प्रत्येक कानून सम्मिलित होता है जो राज्य के विरुद्ध अपराध सृजित करता है चाहे अपराध की शास्ति की प्रकृति कुछ भी हो । अत: यह सिद्धांत कि किसी शास्तिक कानून का अर्थान्वयन यथेष्ट रूप में किया जाना चाहिए, जैसा कि अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा कहा गया है, इस मामले में बिल्कुल भी लागू नहीं होता है । अब इस अंतिम दलील पर विचार करते हुए कि सिविल और दांडिक न्यायालयों के मध्य निष्कर्षों के टकराव को टालने के लिए प्रयास किए जाने चाहिएं, यह इंगित करना आवश्यक है कि दोनों कार्यवाहियों में अपेक्षित सबूत का मानदंड पूर्णतया भिन्न है । सिविल वादों का विनिश्चय साक्ष्य की प्रबलता के आधार पर किया जाता है जबकि किसी दांडिक मामले में सम्पूर्ण भार अभियोजन पर होता है और उसमें युक्तियुक्त संदेह से परे सबूत दिया जाना होता है । ऐसा न तो कोई कानूनी उपबंध है और न ही कोई विधिक सिद्धांत है कि किसी एक कार्यवाही में अभिलिखित निष्कर्षों को दूसरी कार्रवाई में अंतिम या आबद्धकर समझा जाए क्योंकि दोनों मामलों का विनिश्चय उनमें प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर किया जाना होता है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) केवल तब आकृष्ट होगी जब उक्त उपबंध में दिए गए अपराध किसी दस्तावेज को किसी न्यायालय में की किसी कार्यवाही में पेश

किए जाने या साक्ष्य में दिए जाने के उपरांत किसी दस्तावेज के संबंध में अर्थात् उस समय जब दस्तावेज विधि की अभिरक्षा में था किया गया । (पैरा 28, 29 और 30)

अनुमोदित निर्णय

		पैरा
[1998]	(1998) 2 एस. सी. सी. 493 : **सच्चिदानंद सिंह** बनाम **बिहार राज्य** ।	2, 3, 6, 8, 9

निर्दिष्ट निर्णय

[2003]	[2003] 6 एस .सी. सी. 107 : **ललिता जालान** बनाम **बंबई गैस कंपनी** ;	27
[1996]	(1996) 3 एस. सी. सी. 533 : **सुरजीत सिंह** बनाम **बलबीर सिंह** ;	2, 5, 6, 9, 16
[1994]	(1994) 3 सप्ली. एस. सी. सी. 748 : **महादेव बापूजी महाजन** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** ;	14
[1991]	(1991) 1 डब्ल्यू. एल. आर. 58 : **शेफील्ड सिटी कोंसिल** बनाम **यार्कशायर वाटर सर्विसेज लिमिटेड** ;	24
[1988]	ए. आई. आर. 1988 एस. सी. 419 : **सुशील कुमार** बनाम **हरियाणा राज्य** ;	16
[1983]	(1983) 4 एस. सी. सी. 240 : **गोपालकृष्णं मेनन** बनाम **डी. राजा रेड्डी** ;	15
[1980]	ए. आई. आर. 1980 एस. सी. 593 : **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **नटवरलाल दामोदर दास** ;	27
[1979]	(1979) 2 आल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 91 : **एस. जे. ग्रेंजे लिमिटेड** बनाम **सीमा शुल्क और उत्पाद शुल्क आयुक्त** ;	25
[1979]	ए. आई. आर. 1979 एस. सी. 1029 : **पश्चिम बंगाल सरकार विधिक मामलों के अधीक्षक और परामर्शदाता** बनाम **अवनी मैती** ;	27
[1977]	ए. आई. आर. 1977 एस. सी. 435 : **किसन त्र्यम्बक कोथुला** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** ;	27
[1976]	ए. आई. आर. 1976 एस. सी. 1929 : **मुरलीधर मेघराज लोया** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** ;	27
[1976]	(1976) 1 एस. सी. सी. 555 : **पश्चिम बंगाल सरकार के विधिक परामर्शदाता** बनाम **हरिदास मूंदड़ा** ;	14
[1974]	(1974) 3 एस. सी. सी. 628 : **मोहन लाल** बनाम **राजस्थान राज्य** ;	14
[1973]	(1973) 1 एस. सी. सी. 564 : **रघुनाथ** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ;	14

[1971]	(1971) 2 एस. सी. सी. 376 : **पटेल लालजी भाई सोमाभाई** बनाम **गुजरात राज्य ;**	13
[1955]	[1955] 1 एस. सी. आर. 158 : **तोलाराम रेलूमल** बनाम **मुम्बई राज्य ;**	26
[1954]	ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 397 : **एम. एस. शेरिफ** बनाम **मद्रास राज्य ;**	29
[1950]	ए. आई. आर. 1950 प्रिवी कौंसिल 31 : **सन्मुख सिंह** बनाम **दि किंग ;**	16
[1931]	ए. आई. आर. 1931 इलाहाबाद 443 : **एम्परर** बनाम **कुशल पाल सिंह ।**	13

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2005 की दांडिक अपील सं. 402.

1999 की दांडिक एम. (मुख्य) सं. 13 में दिल्ली उच्च न्यायालय के तारीख 15 सितम्बर, 2000 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

पक्षकारों की ओर से सर्वश्री डा. ए. एम. सिंघवी, टी. एल. वी. अय्यर, वाई. पी. नरूला (वरिष्ठ अधिवक्ता), जय बसु, विनोद कुमार, राहुल त्यागी, मधुरेन्द्र कुमार, बी. के. सतीजा, वी. कृष्णमूर्ति, पी. आर. कोविलन, वी. बालचन्द्रन्, गोपालकृष्णन्, अभय कुमार, सुब्रह्मणियम् प्रसाद, अभिजीत चटर्जी, सुबोध पाठक, (सुश्री) सीमा बेंगानी, चंचल कुमार गांगुली, राघवेन्द्र एस. श्रीवास्तव, वी. सेंतिल कुमार, वी. जे. फ्रांसिस, पी. आई. जोस, जेनिस वी. फ्रांसिस, अनुपम मिश्र, ई. एम. एस. अनाम, शांता कुमार वी. महाले और राजेश महाले

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति जी. पी. माथुर ने दिया ।

न्या. माथुर – 2000 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 4111 में इजाजत दी जाती है ।

2. दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (संक्षेप में 'दं. प्र. सं.') की धारा 195(1)(ख)(ii) के निर्वचन से संबंधित **सुरजीत सिंह** बनाम **बलवीर सिंह**[1] तथा **सच्चिदानंद सिंह** बनाम **बिहार राज्य**[2] वाले मामले में के विनिश्चयों जिन्हें प्रत्येक में तीन विद्वान् न्यायाधीशों वाले न्यायपीठ द्वारा दिया गया, व्यक्त विरोधी मत के कारण इस अपील को वर्तमान न्यायपीठ के समक्ष प्रस्तुत किया गया है ।

3. मामले के तथ्यों का संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है । अपीलार्थी सं. 1 और 2 मुख्तार सिंह मरवाह के सगे भाई हैं जबकि प्रत्यर्थी सं. 1 और 2 क्रमशः उसकी विधवा और पुत्र हैं । मुख्तार सिंह मरवाह की तारीख 3 जून, 1993 को मृत्यु हो गई थी । अपीलार्थी सं. 1 ने अभिकथित रूप से मुख्तार सिंह मरवाह द्वारा तारीख 20 जनवरी, 1993 को निष्पादित विल का प्रोबेट मंजूर किए जाने के लिए जिला न्यायाधीश, दिल्ली के न्यायालय में 1993 का प्रोबेट मामला सं. 363 फाइल किया । याचिका का प्रत्यर्थियों द्वारा इस आधार पर विरोध किया गया कि विल कूटरचित है । उनके आवेदन पर अपीलार्थी सं. 1 ने तारीख 10 फरवरी, 1994 को जिला न्यायाधीश के न्यायालय में मूल विल फाइल की । तत्पश्चात्, प्रत्यर्थियों ने यह

[1] (1996) 3 एस. सी. सी. 533.

[2] (1998) 2 एस. सी. सी. 493.

अनुरोध करते हुए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 340 के अन्तर्गत आवेदन फाइल किया कि अपीलार्थी सं. 1 के विरुद्ध दांडिक परिवाद फाइल किया जाए क्योंकि उसके द्वारा की गई विल कूटरचित है । उक्त आवेदन का उत्तर तारीख 27 जुलाई, 1994 को फाइल किया गया किन्तु आवेदन का अभी तक निपटारा नहीं किया गया है । तत्पश्चात्, प्रत्यर्थियों ने मई, 1996 में नई दिल्ली के मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के न्यायालय में अपीलार्थियों और उनकी मां श्रीमती त्रिलोचन कौर मरवाह के अभियोजन के लिए भारतीय दंड संहिता की धारा 192, 193, 463, 464, 465, 467, 469, 471, 499 और 500 के अन्तर्गत इस आधार पर दांडिक परिवाद फाइल किया कि अपीलार्थियों द्वारा की गई मुख्तार सिंह मरवाह की विल कूटरचित और बनावटी दस्तावेज है । परिवाद में यह कहा गया कि यद्यपि मुख्तार सिंह मरवाह शिक्षित व्यक्ति था, किन्तु विल पर उसके अंगूठे के निशान लगे हैं । उसके बैंक ऑफ टोक्यो और स्टैण्डर्ड चार्टर्ड बैंक में खाते थे जिन्हें वह हस्ताक्षर करके चलाता था । विल के अन्तर्गत उसने प्रत्यर्थियों को, जो क्रमशः उसके विधवा और पुत्र हैं और अपनी पुत्री को भी जो स्पैस्टिक (मस्तिष्क संस्तंभ से अक्रांत) थी, पूर्णतया वंचित कर दिया था और उसने अपनी सम्पूर्ण संपत्ति की अपनी माता को और उसकी मृत्यु के उपरांत अपने भाइयों और बहनों को वसीयत कर दी थी । अपीलार्थी सं. 1 इकबाल सिंह मरवाह को विल का एकमात्र निष्पादक और न्यासी नियुक्त किया गया था । परिवादी ने विद्वान् मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष बैंक के उन दो व्यक्तियों सहित जो सुसंगत अभिलेख लाए थे और जिन्होंने यह अभिसाक्ष्य दिया कि मुख्तार सिंह मरवाह खातों का संचालन अपने हस्ताक्षर करके करता था छह साक्षियों की परीक्षा कराई । विद्वान् मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह प्रश्न कि क्या विल वास्तविक दस्तावेज है या कूटरचित जिला न्यायाधीश के समक्ष प्रोबेट कार्यवाहियों में जहां विल फाइल की गई थी विवाद्यक था । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(i) और (ii), भारतीय दंड संहिता की धारा 192, 193, 463, 464, 471, 475 और 476 के अन्तर्गत अपराधों का संज्ञान लिए जाने के वर्जन के रूप में क्रियान्वित होती है । तदनुसार परिवाद को तारीख 2 मई, 1998 को खारिज कर दिया गया । तत्पश्चात् प्रत्यर्थियों ने विद्वान् मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के आदेश के विरुद्ध सेशन न्यायाधीश के समक्ष दांडिक पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया जिसने **सच्चिदानंद सिंह** बनाम **बिहार राज्य** वाले उपर्युक्त मामले का अवलंब लेते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) में अन्तर्विष्ट वर्जन वहां पर लागू नहीं होगा जहां किसी दस्तावेज की कूटरचना उस दस्तावेज को न्यायालय में प्रस्तुत किए जाने के पूर्व की गई । तदनुसार पुनरीक्षण आवेदन स्वीकार कर लिया गया और मामले को विधि के अनुसार कार्यवाही के लिए मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के न्यायालय को प्रतिप्रेषित कर दिया गया । अपीलार्थियों ने विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा पारित आदेश को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अन्तर्गत दिल्ली उच्च न्यायालय में याचिका फाइल करके चुनौती दी किन्तु वह याचिका तारीख 15 सितम्बर, 2000 को **सच्चिदानंद सिंह** वाले उपर्युक्त मामले में अधिकथित विधि का अनुसरण करते हुए खारिज कर दी गई । इससे व्यथित होकर अपीलार्थियों ने इस न्यायालय में यह अपील फाइल की है ।

4. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 की उपधारा (1), जो अपीलार्थियों के अनुसार प्रत्यर्थियों द्वारा फाइल किए गए परिवाद का संज्ञान लेने के लिए वर्जन सृजित करती है, इस प्रकार है :–

"**195. लोक न्याय के विरुद्ध अपराधों के लिए और साक्ष्य में दिए गए दस्तावेजों से संबंधित अपराधों के लिए लोक सेवकों के विधिपूर्ण प्राधिकार के अवमान के लिए अभियोजन** – (1) कोई न्यायालय, –

(क) (i) भारतीय दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) की धारा 172 से धारा 188 तक की धाराओं के (जिनके अन्तर्गत ये दोनों धाराएं भी हैं) अधीन दंडनीय किसी अपराध का, अथवा

(ii) ऐसे अपराध के किसी दुष्प्रेरण या ऐसा अपराध करने के प्रयत्न का, अथवा

(iii) ऐसा अपराध करने के लिए किसी आपराधिक षड्यंत्र का,

संज्ञान संबद्ध लोक सेवक के, या किसी अन्य ऐसे लोक सेवक के, जिसके वह प्रशासनिक तौर पर अधीनस्थ है, लिखित परिवाद पर ही करेगा, अन्यथा नहीं ;

(ख) (i) भारतीय दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) की निम्नलिखित धाराओं अर्थात् 193 से 196 (जिनके अन्तर्गत ये दोनों धाराएं भी हैं), 199, 200, 205 से 211 (जिनके अन्तर्गत ये दोनों धाराएं भी हैं) और 228 में से किन्हीं के अधीन दंडनीय किसी अपराध का, जब ऐसे अपराध के बारे में यह अभिकथित है कि वह किसी न्यायालय में की कार्यवाही में या उसके संबंध में किया गया है ; अथवा

(ii) उसी संहिता की धारा 463 में वर्णित या धारा 471, धारा 475 या धारा 476 के अधीन दंडनीय अपराध का, जब ऐसे अपराध के बारे में यह अभिकथित है कि वह किसी न्यायालय में की कार्यवाही में पेश की गई साक्ष्य में दी गई किसी दस्तावेज के बारे में किया गया है ; अथवा

(iii) उपखंड (i) या उपखंड (ii) में विनिर्दिष्ट किसी अपराध को करने के लिए आपराधिक षड्यंत्र या उसे करने के प्रयत्न या उसके दुष्प्रेरण के अपराध का,

संज्ञान ऐसे न्यायालय के, या किसी अन्य न्यायालय के, जिसके वह न्यायालय अधीनस्थ है, लिखित परिवाद पर ही करेगा, अन्यथा नहीं ।"

5. इस मामले में मुख्य संविवाद दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 की उपधारा (1) के खंड (ख)(ii) की इस अभिव्यक्ति "जब ऐसे अपराध के बारे में यह अभिकथित है कि वह किसी न्यायालय में की कार्यवाही में पेश किए गए साक्ष्य में दी गई किसी दस्तावेज के बारे में किया गया" के निर्वचन के संबंध में है । अपीलार्थियों ने **सुरजीत सिंह** बनाम **बलबीर सिंह** वाले उपर्युक्त मामले में दिए गए विनिश्चय के पैरा 10 में व्यक्त की गई इन मताभिव्यक्तियों का अवलंब लिया :-

"इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी अपराध का संज्ञान लेने के लिए दस्तावेज जिसमें कूटरचना की गई, यदि न्यायालय में प्रस्तुत किया जाए या साक्ष्य में दिया जाए, तो धारा 195(i)(ख)(ii) के अन्तर्गत संज्ञान लिए जाने का वर्जन आकर्षित होगा और दांडिक न्यायालय उस अपराध का संज्ञान लेने से प्रतिषिद्ध है जब तक कि न्यायालय द्वारा या उसके निमित्त संहिता की धारा 340 के अन्तर्गत विहित प्रक्रिया के अनुसार कोई परिवाद फाइल नहीं किया जाता है । इसका उद्देश्य न्याय प्रशासन की शुचिता को परिरक्षित रखना और विवश या भयभीत हुए बिना न्याय प्रक्रिया में अग्रसर होने के लिए पक्षकारों को कतिपय दस्तावेजों के सबूत में साक्ष्य पेश करने की अनुज्ञा प्रदान करना है । धारा 195 का वर्जन इसके अधीन आने वाले अपराध का संज्ञान लेना है ।"

यह दलील दी गई कि किसी दस्तावेज को एक बार न्यायालय में साक्ष्य के रूप में पेश किए जाने या दे दिए जाने पर प्राइवेट परिवाद के आधार पर संज्ञान का लिया जाना पूर्णतया वर्जित है ।

6. **सच्चिदानंद सिंह** वाले उपर्युक्त मामले में सुसंगत उपबंधों के विश्लेषण और अनेक पूर्ववर्ती विनिश्चयों (**सुरजीत सिंह** वाले उपर्युक्त मामले को छोड़कर) का उल्लेख किए जाने के उपरांत न्यायालय ने पैराग्राफ 11, 12 और 23 में अपने निष्कर्षों को इस प्रकार अभिलिखित किया :-

"11. संहिता की धारा 340(1) में परिकल्पित प्रारंभिक जांच का प्रयोजन यह अभिनिश्चित करना है कि क्या न्याय प्रशासन को प्रभावित करने वाला कोई अपराध-न्यायालय में प्रस्तुत किए गए या उस न्यायालय में की किसी कार्यवाही में साक्ष्य के रूप में दिए गए किसी दस्तावेज के संबंध में किया गया । दूसरे शब्दों में, अपराध ऐसे समय के दौरान किया जाना चाहिए जब दस्तावेज विधि की अभिरक्षा में हो ।

12. यह सोचना उचित नहीं होगा कि किसी दस्तावेज की कूटरचना से संबंधित कोई अपराध

यदि न्यायालय की प्रसीमा के बाहर और न्यायालय में उसे प्रस्तुत किए जाने के बहुत पहले किया जाता है, तो ऐसे अपराध को भी मात्र इस कारण से कि दस्तावेज बाद में न्यायालय के अभिलेख में पहुंच गया न्याय प्रशासन को प्रभावित करने वाला अपराध माना जा सकेगा ।

23. उपर्युक्त चर्चा का मर्म यह है कि संहिता की धारा 195(i)(ख)(ii) में अंतर्विष्ट वर्जन ऐसे मामले में लागू नहीं होता है, जहां दस्तावेज की कूटरचना उसे न्यायालय में प्रस्तुत किए जाने के पहले की गई थी ।"

7. सहज रूप में अनुशीलन करने पर धारा 195 की उपधारा (1) के खंड (ख)(ii) के दो निर्वचन संभव हैं । एक संभव निर्वचन यह है कि जब भारतीय दंड संहिता की धारा 463 में वर्णित अपराध या संहिता की धारा 471, धारा 475 या धारा 476 के अन्तर्गत दंडनीय कोई अपराध अभिकथित रूप में किसी ऐसे दस्तावेज के संबंध में किया गया जिसे बाद में किसी न्यायालय में की कार्यवाही में साक्ष्य में प्रस्तुत किया जाए या दिया जाए, न्यायालय द्वारा परिवाद आवश्यक होगा । दूसरा, संभव निर्वचन यह है कि जब किसी दस्तावेज को किसी न्यायालय में किसी कार्यवाही में साक्ष्य में प्रस्तुत किया जाए या साक्ष्य में दिया जाए और तत्पश्चात् इसके संबंध में यथापूर्वोक्त रूप में वर्णित कोई अपराध किया जाए तो न्यायालय द्वारा परिवाद फाइल किया जाना आवश्यक होगा । इस निर्वचन के आधार पर यदि धारा में यथावर्णित अपराध दस्तावेज को न्यायालय में साक्ष्य में प्रस्तुत किए जाने या दिए जाने के पूर्व किया जाए, तो न्यायालय द्वारा कोई अपराध फाइल किया जाना आवश्यक नहीं होगा और प्राइवेट परिवाद ग्रहण किया जा सकेगा । जिस प्रश्न पर विचार किया जाना आवश्यक है वह यह है कि अधिनियम की स्कीम और ईप्सित किए जाने वाले उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए दोनों में से किस निर्वचन को स्वीकार किया जाए ।

8. अपीलार्थियों के विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल डा. ए. एम. सिंघवी ने निवेदन किया कि धारा 195 का प्रयोजन उस स्थिति में प्राइवेट अभियोजन को वर्जित करना है जहां न्याय हित के दुरुपयोग करने का प्रयास किया जाए और न्यायालय द्वारा अपनी गरिमा और प्रतिष्ठा बनाए रखने की बात स्वयं न्यायालय पर ही छोड़ दी गई है । जैसाकि **सच्चिदानंद सिंह** वाले उपर्युक्त मामले में अभिनिर्धारित किया गया कि यदि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) का अति निर्बंधित निर्वचन किया जाता है, तो इस उपबंध द्वारा प्रदत्त संरक्षण अधिनियमिति के उद्देश्य को विफल बना कर वस्तुतः नाममात्र का रह जाएगा । यह निवेदन किया गया कि यह उपबंध ऐसे किसी व्यक्ति के अभियोजन का पूर्णतः वर्जन नहीं करता है जिसने इसके अधीन वर्णित प्रकार का अपराध किया है, किन्तु इस अर्थ में रक्षोपाय करता है कि जहां दस्तावेज को प्रस्तुत कर दिया गया है या साक्ष्य में दे दिया गया है या ऐसे किसी अन्य न्यायालय में प्रस्तुत कर दिया गया है जिसके वह न्यायालय अधीनस्थ है उसे केवल न्यायालय के परिवाद पर इस प्रकार अभियोजित किया जा सकता है । विद्वान् काउंसेल ने यह भी निवेदन किया कि दांडिक उपबंध होने के कारण निर्बंधित अर्थान्वयन किया जाना, जैसा कि **सच्चिदानंद सिंह** वाले उपर्युक्त मामले में अभिनिर्धारित किया गया, उचित नहीं होगा क्योंकि किसी अपराध को किए जाने का अभियुक्त व्यक्ति विधानमंडल द्वारा प्रदान किए गए संरक्षण से वंचित हो जाएगा । उसने यह भी निवेदन किया कि पूर्वोक्त दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए सिविल या राजस्व न्यायालय द्वारा जहां दस्तावेज साक्ष्य प्रस्तुत किया गया या दिया गया और प्राइवेट परिवाद के आधार पर दांडिक न्यायालय द्वारा इसे अभिलिखित किया गया विरोधी निष्कर्ष अभिलिखित किए जाने की संभावना है । अतः, इस धारा का निर्वचन ऐसी रीति में किए जाने का प्रयास किया जाना चाहिए ताकि ऐसी संभाव्यता से बचा जा सके ।

9. प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल श्री वाई. पी. नरुला ने यह निवेदन किया कि धारा की भाषा स्पष्ट है और इसमें कोई संदिग्धता न होने के कारण एकमात्र संभव रीति जिसमें उसका निर्वचन किया जा सकता है यह है कि न्यायालय द्वारा परिवाद तब आवश्यक होगा जब धारा में उपवर्णित अपराध ऐसे समय किए जाएं जब दस्तावेज़ को न्यायालय में पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है या साक्ष्य में दिया जा चुका है अर्थात् जब वह न्यायालय की कार्यवाहियों में है । इस उपबंध का अर्थान्वयन यथेष्ट रूप में किया जाना चाहिए क्योंकि

यह किसी अपराध का संज्ञान लेने की न्यायालय की शक्ति पर वर्जन सृजित करता है और ऐसे किसी भी उपबंध का, जो न्यायालय को उस अधिकारिता से वंचित करता है जो वह अन्यथा रखता है, अर्थान्वयन यथेष्ट रूप में किया जाना चाहिए और उसका परिवर्धित अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए । चूंकि यह उपबंध ऐसे किसी व्यक्ति को, जो पीड़ित है और भारतीय दंड संहिता की धारा 463 के अन्तर्गत वर्णित या धारा 471, 475 या 476 के अन्तर्गत दंडनीय अपराधों से व्यथित है, परिवाद फाइल करके दांडिक अभियोजन को आरंभ करने से वंचित करता है, इसलिए उसके हित को अनदेखा नहीं किया जा सकता है । अतएव इस उपबंध का परिवर्धित अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए और इसका निर्बंधित अर्थ में प्रयोग किया जाना चाहिए । विद्वान् काउंसेल ने यह भी निवेदन किया है कि कतिपय परिस्थितियों में जब न्यायालय में किसी दस्तावेज को प्रस्तुत करने या साक्ष्य में देने के पूर्व किसी समय बिन्दु पर कूटरचना की गई है, तो उस न्यायालय के लिए इस बाबत ठोस राय बनाना बिल्कुल भी संभव नहीं है कि क्या परिवाद फाइल किया जाना समीचीन है और इससे दोषी व्यक्ति का बच निकलना सुकर हो सकता है । श्री नरुला ने यह निवेदन भी किया है कि **सच्चिदानंद सिंह** वाले उपर्युक्त मामले में इस न्यायालय ने दोहराते हुए उसी मत को अपनाया जिसे इस न्यायालय द्वारा दिए गए अनेक पूर्ववर्ती विनिश्चयों में व्यक्त किया गया और केवल **सुरजीत सिंह** वाले उपर्युक्त मामले में विसंगत विचार व्यक्त किया गया जो सही नहीं है ।

10. अब इस कानूनी उपबंध की स्कीम की परीक्षा करना चाहेंगे । मोटे तौर पर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 में अपराधों के तीन भिन्न प्रवर्गों की चर्चा है जिन्हें खंड (क), ख(i) और ख(ii) में वर्णित किया गया है और वे (1) लोक सेवकों के विधिपूर्ण प्राधिकार की अवमानना, (2) लोक न्याय के विरुद्ध अपराधों और (3) साक्ष्य में दिए गए दस्तावेजों से संबंधित अपराधों के संबंध में है । खंड (क) में भारतीय दंड संहिता की धारा 172 से 188 जो संहिता के अध्याय 10 में हैं के अन्तर्गत दंडनीय अपराधों की चर्चा है और उक्त अध्याय का शीर्षक 'लोक सेवकों के विधिपूर्ण प्राधिकार के अवमान के विषय में' है । ये ऐसे अपराध हैं जो किसी लोक सेवक के विधिपूर्ण कर्तव्यों के निर्वहन या कृत्यकारिता को सीधे प्रभावित करते हैं । खंड ख(i) में भारतीय दंड संहिता के अध्याय 11 में वर्णित अपराधों के प्रतिनिर्देश है जिसका शीर्षक है 'मिथ्या साक्ष्य और लोक न्याय के विरुद्ध अपराधों के विषय में' । इस खंड में उल्लिखित अपराध मिथ्या साक्ष्य देने या गढ़ने या किसी न्यायिक कार्यवाही में या किसी न्यायालय के समक्ष या किसी लोक सेवक के समक्ष जो ऐसी घोषणा को प्राप्त करने के लिए विधि द्वारा आबद्ध या प्राधिकृत है मिथ्या घोषणा करने से संबंधित हैं और इस खंड में कुछ ऐसे अपराधों का भी उल्लेख है जिनका किसी न्यायालय में कार्यवाहियों से सीधा सह-संबंध है (भारतीय दंड संहिता की धारा 205 और 211) । धारा 195 के दोनों उपबंधों या खंडों की यह स्कीम होने के कारण अर्थात् अपराध ऐसा होना चाहिए जो किसी लोक सेवक के विधिपूर्ण कर्तव्यों के निर्वहन या कृत्यकारिता से सीधे संबंधित हो या प्रभावित करे या जिसका किसी न्यायालय में कार्यवाहियों से सीधा सह-संबंध हो, तो खंड ख(ii) में प्रयुक्त अभिव्यक्ति "जब ऐसे अपराध के बारे में यह अभिकथित है कि वह किसी न्यायालय की कार्यवाही में पेश किए गए या साक्ष्य में दी गई किसी दस्तावेज के बारे में किया गया है"-का साधारणत: अर्थ (ऐसे) किसी अपराध के किए जाने से होना चाहिए जो दस्तावेज को वास्तव में न्यायालय में पेश किए जाने या साक्ष्य में दिए जाने के उपरांत किया गया है । ऐसी स्थिति या आकस्मिकता जब इस खंड में यथाउपवर्णित अपराध पहले ही किया जा चुका है और दस्तावेज को न्यायालय में बाद में पेश किया जाए या साक्ष्य में दिया जाए खंड (क)(i) और (ख)(i) और परिणामतः भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 की स्कीम के अनुरूप प्रतीत नहीं होती है । इससे यह उपदर्शित है कि खंड ख(ii) में ऐसी स्थिति अनुध्यात है जब इसमें उपवर्णित अपराध किसी न्यायालय में की कार्यवाही में पेश किए जाने या साक्ष्य में दिए जाने के उपरांत किसी दस्तावेज के संबंध में किए गए हैं ।

11. धारा 195 (1) के खंड (ख)(i) और (ख)(ii) में उपवर्णित अपराधों का संज्ञान लिए जाने की बाबत न्यायालय के समक्ष लिखित परिवाद प्रस्तुत किए जाने के लिए आदेश है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 340

और 341 में जो अध्याय 26 में पाई जाती हैं परिवाद फाइल किए जाने और इससे संबद्ध अन्य मामलों की प्रक्रिया वर्णित है । इस अध्याय का शीर्षक है 'न्याय प्रशासन पर प्रभाव डालने वाले अपराधों के बारे में उपबंध' । यद्यपि साधारण नियम के रूप में किसी शीर्षक में प्रयोग की गई भाषा का प्रयोग उस धारा में प्रयुक्त स्पष्ट शब्दों को, जब उनके सामान्य अर्थ के संबंध में कोई संदेह न हो भिन्न प्रभाव देने के लिए नहीं किया जा सकता है तथापि उन्हें पार्श्विक टिप्पण या मात्र अधिनियमितियों का वर्गीकरण करने के प्रयोजनार्थ अधिनियम में पुरःस्थापित किया गया नहीं माना जा सकता है । वे स्वयं में अधिनियम का महत्वपूर्ण भाग गठित करते हैं और उनका उन धाराओं के जो उनके तुरंत बाद शुरू होती हैं स्पष्टीकरण के रूप में उसी प्रकार अनुशीलन किया जा सकता है जिस प्रकार कि किसी कानून की अधिनियमितियों को स्पष्ट करने के लिए उसकी उद्देशिका का परिशीलन किया जाता है क्योंकि इससे उन धाराओं जो उनके बाद में आरंभ होती है की रचना की उस प्रमुख बात का पता चलता है जो उद्देशिका मात्र से स्पष्ट नहीं होती है (देखें क्रेज कृत 'स्टेट्यूट लॉ' सातवां संस्करण, पृष्ठ 207-209) । इस तथ्य से कि न्याय प्रशासन को प्रभावित करने वाले अपराधों के संबंध में न्यायालय द्वारा परिवाद फाइल करने की प्रक्रिया अध्याय 26 में उपबंधित है इस विधायी आशय का स्पष्टतः पता चलता है कि किए जाने वाले अपराध इस प्रकार के होने चाहिएं जो न्याय प्रशासन को सीधे प्रभावित करें अर्थात् जो दस्तावेज न्यायालय में पेश किए जाने या साक्ष्य में दिए जाने के उपरांत किए जाते हैं । किसी दस्तावेज को न्यायालय में पेश किए जाने या साक्ष्य के रूप में दिए जाने के पूर्व किसी समय उसके संबंध में किया गया कोई भी अपराध वास्तव में न्याय प्रशासन को प्रभावित करने वाला अपराध नहीं कहा जा सकता है ।

12. पुरातन दंड प्रक्रिया संहिता, 1908 (संक्षेप में 'पुरातन संहिता') की धारा 195 से संबंधित विवादास्पद प्रश्न के बारे में दिए गए कुछ पूर्ववर्ती विनिश्चयों के प्रतिनिर्देश करना उपयुक्त होगा । 'पुरातन संहिता' की धारा 195 की उपधारा (1)(ग) इस प्रकार है :–

"धारा 195 – (1) कोई न्यायालय

(ग) **साक्ष्य में दिए गए दस्तावेजों से संबंधित कतिपय अपराधों के लिए अभियोजन** – इसी संहिता की धारा 463 में वर्णित या धारा 471, धारा 475 या धारा 476 के अधीन दंडनीय अपराध का, जब ऐसे अपराध के बारे में यह अभिकथित है कि वह किसी न्यायालय में की कार्यवाही में पेश किए गए या ऐसी कार्यवाही में साक्ष्य में दिए गए किसी दस्तावेज के बारे में किसी पक्षकार द्वारा किया गया है ।

संज्ञान ऐसे न्यायालय के, या किसी अन्य न्यायालय के, जिसके वह न्यायालय अधीनस्थ है, लिखित परिवाद पर ही करेगा, अन्यथा नहीं ।"

यहां पर यह उल्लेख किया जा सकता है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) में प्रयुक्त भाषा पूर्वोक्त उपबंध के समरूप है और इसमें पुरातन संहिता के इन शब्दों "किसी न्यायालय में की किसी कार्यवाही के किसी पक्षकार द्वारा" को नवीन संहिता में छोड़ दिया गया है । हम इस लोप के प्रभाव के प्रति बाद में उल्लेख करेंगे ।

13. **एम्परर** बनाम **कुशल पाल सिंह**[1] वाले मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ ने पूर्वोक्त उपबंध की व्याप्ति पर विचार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 195 का खंड (ग) केवल उन मामलों में लागू होता है जहां अपराध किसी पक्षकार द्वारा ऐसे किसी दस्तावेज के संबंध में किया जाए जिसे किसी न्यायालय में की किसी कार्यवाही में पेश किया गया है या उस कार्यवाही में दिया गया है । यह अभिनिर्धारित किया गया कि ऐसा कोई भी अपराध जिसे किसी व्यक्ति द्वारा पहले ही किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया है अपराध किए जाने के 30 वर्ष तक पक्षकार नहीं बनाता है, खंड (ग) के अर्थांतर्गत पक्षकार

---

[1] ए. आई. आर. 1931 इलाहाबाद 443.

द्वारा किया गया अपराध नहीं कहा जा सकता है । इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने **पटेल लालजी भाई सोमाभाई** बनाम **गुजरात राज्य**[1] वाले मामले में पर्याप्त विस्तार से इस संविवाद की परीक्षा करने के उपरांत यह मत व्यक्त किया कि सामान्य नियम के रूप में न्यायालय अभियोजनों को संहिता की धारा (जो अब दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 340 के समरूप है) द्वारा यथाअनुध्यात रूप में आरंभ करना समीचीन समझते हैं यदि आरोप के लिए युक्तियुक्त आधार है और दोषसिद्धि की युक्तियुक्त अधिसंभाव्यता है । समीचीनता से संबंधित निष्कर्ष की अपेक्षा किसी ऐसे अपराध के मामले में जिसे अपराध और कार्यवाही के मध्य निकट संबंध होने के कारण [दंड प्रक्रिया संहिता के खंड (ख)(i) के तत्समान पुरातन संहिता के] खंड (ख) में विनिर्दिष्ट अपराधों के मामले में उस न्यायालय में की कार्यवाही में या उसके संबंध में अभिकथित रूप से किए गए अपराध के मामले में तो समझ में आती है । खंड (ग) में विनिर्दिष्ट अपराधों के मामले में यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपराध उस न्यायालय में की किसी कार्यवाही में के किसी पक्षकार द्वारा उस न्यायालय में पेश किए गए या साक्ष्य में दिए गए दस्तावेज के संबंध में किए जाएं । इस न्यायालय ने उपर्युक्त **एम्परर** बनाम **कुशलपाल सिंह** वाले मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए मत का अनुमोदन किया और जैसा कि रिपोर्ट के पैरा 7 में वर्णित है यह अभिनिर्धारित किया :–

> "(i) धारा 195(1)(ख) और (ग) और धारा 476 अधिनियमित करने का अन्तर्निहित प्रयोजन प्राइवेट पक्षकारों द्वारा अपने विरोधियों को सताने या परेशान करने, बदला लेने की भावना से उत्प्रेरित होकर तुच्छ, तंग करने वाले या अपर्याप्त आधारों पर दांडिक अभियोजन आरंभ करने की लालसा को नियंत्रित करना प्रतीत होता है । इन अपराधों को न्यायिक प्रक्रिया पर इनके सीधे पड़ने वाले प्रभाव के कारण न्यायालय द्वारा नियंत्रित किए जाने के लिए चुना गया है । न्यायिक प्रक्रिया या लोक न्याय प्रशासन सीधे और तत्काल प्रभावित होते हैं या इन अपराधों की चपेट में आते हैं । चूंकि न्यायालय की कार्यवाहियों की शुचिता अपराध द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से धूमिल होती है, न्यायालय ही दोषी पक्षकार के विरुद्ध परिवाद करने की वांछनीयता पर विचार करने का हकदार होता है । प्राइवेट पक्षकार जिसे अंततः भागना पड़ता है, परिवाद फाइल करने के लिए सिविल न्यायालय से आग्रह कर सकता है ।
>
> (ii) अत: वे अपराध जिनके बारे में परिवाद करने का अधिकार केवल न्यायालय को है केवल समुचित रूप में वही अपराध माने जा सकते हैं जो उस न्यायालय में की किसी कार्यवाही में के किसी पक्षकार द्वारा किए जाते हैं, जिनके किए जाने का उस न्यायालय में की कार्यवाही से युक्तियुक्त रूप से निकट संबंध होता है जिससे कि वह पूर्णतया स्वतंत्र और नवीन जांच को बिना अपचारी पक्षकार को अभियोजित किए जाने की समीचीनता के प्रमुखतः अपने अभिलेख के प्रतिनिर्देश करके समाधानप्रद रूप से विचार कर सके । अतः, धारा 195(1)(ग) में अंतर्विष्ट प्रतिषेध को केवल ऐसे मामलों को लागू करने की बात की पुष्टि करते हुए जिनमें इसमें विनिर्दिष्ट अपराध कार्यवाही के किसी पक्षकार द्वारा ऐसे पक्षकार के रूप में किए गए थे यथेष्ट अर्थान्वयन अपनाना अधिक समुचित प्रतीत होता है । विधानमंडल का आशय धारा 195(1)(ग) में अंतर्विष्ट प्रतिषेध को उसमें उल्लिखित अपराधों को विस्तारित करना नहीं हो सकता जब ऐसे अपराध उस न्यायालय की किसी कार्यवाही में किसी व्यक्ति के ऐसा पक्षकार बनने के पूर्व उसके द्वारा किए गए ।"

न्यायालय ने किसी उपबंध के ऐसे किसी अर्थान्वयन को जिसके द्वारा ऐसी किसी कार्यवाही के प्रारंभ से पूर्व कूटरचित दस्तावेज जिसमें इसका बाद में साक्ष्य के रूप में प्रयोग किया जाना है धारा 195 की परिधि के अंतर्गत आ सके स्पष्टतः नामंजूर कर दिया क्योंकि इससे किसी व्यक्ति को प्राप्त अभियोजन आरंभ करने का अधिकार जिसे दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 190 द्वारा मान्यता प्रदान की गई है अयुक्तियुक्त रूप से निर्बंधित हो जाएगा ।

---

[1] (1971) 2 एस. सी. सी. 376.

14. पूर्वोक्त विनिश्चय पर **रघुनाथ** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में विचार किया गया था। इस मामले में अभियुक्त ने किसी धोखेबाज (ढोंगी) को विक्रेता के रूप में प्रदर्शित करके किसी विधवा की
6 सम्पत्ति का विक्रय-विलेख प्राप्त कर लिया था और तत्पश्चात् तहसीलदार के समक्ष नामांतरण (दाखिला खारिज) आवेदन फाइल किया। विधवा ने दाखिला खारिज आवेदन का इस आधार पर प्रतिवाद किया कि उसने कभी भी विक्रय-विलेख निष्पादित नहीं किया था और तत्पश्चात् दंड संहिता की धारा 465, 468 और 471 के अन्तर्गत दांडिक परिवाद फाइल किया जिसमें अभियुक्त को दोषसिद्ध किया गया। अपील में यह दलील दी गई कि प्राइवेट परिवाद दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ग) के कारण वर्जित था और परिवाद को राजस्व न्यायालय स्वयं फाइल कर सकता था। न्यायालय ने उपर्युक्त **पटेल लालजी भाई** बनाम **गुजरात राज्य** वाले मामले के विनिश्चयाधार का अवलंब लेते हुए पूर्वोक्त दलील को अस्वीकार कर दिया और प्राइवेट परिवाद को ग्रहण किए जाने योग्य ठहराया। **मोहन लाल** बनाम **राजस्थान राज्य**[2] वाले मामले में उपर्युक्त दोनों विनिश्चयों का अवलंब यह अभिनिर्धारित किए जाने के लिए लिया गया कि धारा 195(1)(ग) (पुरानी संहिता) के उपबंध वहां लागू नहीं होते जहां नामांतरण की कार्यवाही विल कूटरचित किए जाने के पश्चात् आरंभ हुई हों। **पश्चिम बंगाल सरकार के विधिक परामर्शदाता** बनाम **हरिदास मूंदड़ा**[3] वाले मामले में न्यायमूर्ति भगवती (जैसे कि वे तत्समय थे) ने तीन न्यायाधीशों के न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए यह मत व्यक्त किया कि पहले विभिन्न उच्च न्यायालयों के मध्य मतान्तर था किन्तु उसे इस न्यायालय द्वारा उपर्युक्त **पटेल लालजी भाई सोमाभाई** वाले मामले में दिए गए निर्णय के द्वारा सुलझा दिया गया और इस मामले में अपनाए गए मत का अनुमोदन किया गया कि धारा 195(1)(ग) के शब्दों का स्पष्ट अभिप्राय ऐसे अपराध से है जिसे अभिकथित रूप से किसी कार्यवाही के किसी पक्षकार द्वारा अपनी ऐसी हैसियत में किया गया अर्थात् कार्यवाही का पक्षकार बनने के उपरांत। धारा 195(1)(ग), 476, 476-क (पुरानी संहिता की) को एक साथ पढ़े जाने पर संदेह से परे यह उपदर्शित है कि विधानमंडल का आशय धारा 195(1)(ग) में दिए गए प्रतिषेध को उक्त धारा में उल्लिखित उन अपराधों को लागू करना नहीं है जिन्हें किसी कार्यवाही के किसी पक्षकार द्वारा उस कार्यवाही का पक्षकार बनने के पूर्व किया गया है। यही मत **महादेव बापूजी महाजन** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[4] वाले मामले में व्यक्त किया गया। इस मामले में दी गई इस दलील को कि राजस्व न्यायालय द्वारा परिवाद न फाइल किया जाना भारतीय दंड संहिता की धारा 120-ख के साथ पठित धारा 446, 468, 471 के अन्तर्गत अपराधों के संबंध में जिन्हें राजस्व न्यायालय के समक्ष कार्यवाही के आरंभ होने के पूर्व किया गया था दांडिक न्यायालय द्वारा संज्ञान लेने का वर्जन है को स्वीकार नहीं किया गया।

15. अपीलार्थियों के विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल डा. सिंघवी ने अपनी दलील के समर्थन में **गोपालकृष्ण मेनन** बनाम **डी. राजा रेड्डी**[5] वाले मामले का जो दो विद्वान् न्यायाधीशों के न्यायपीठ द्वारा दिया गया विनिश्चय है दृढ़तापूर्वक अवलंब लिया। इस मामले में अपीलार्थियों ने रु. 20,000/- के प्रतिदाय जिनके बारे में उन्होंने प्रथम प्रत्यर्थी के पास जमा करने का दावा किया और कतिपय अन्य रकम की वसूली के लिए सिविल वाद फाइल किया था। वादपत्र के साथ अपीलार्थियों ने अपने दावे के समर्थन में रु. 20,000/- की रसीद पेश की। तत्पश्चात्, प्रथम प्रत्यर्थी ने धनराशि की रसीद पर अपने हस्ताक्षर की कूटरचना और तद्द्वारा भारतीय दंड संहिता की धारा 467 और 471 के अन्तर्गत दंडनीय अपराध किए जाने का अभिकथन करते हुए अपीलार्थियों के विरुद्ध दांडिक परिवाद फाइल किया। अपीलार्थियों ने इस आधार पर कार्यवाही को

---

[1] (1973) 1 एस. सी. सी. 564.
[2] (1974) 3 एस. सी. सी. 628.
[3] (1976) 1 एस. सी. सी. 555.
[4] (1994) 3 सप्ली. एस. सी. सी. 748.
[5] (1983) 4 एस. सी. सी. 240.

अभिखंडित किए जाने के लिए उच्च न्यायालय में समावेदन किया कि न्यायालय द्वारा परिवाद फाइल किए जाने के अभाव में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) के अन्तर्गत अभियोजन वर्जित है । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए याचिका को खारिज कर दिया कि धारा 463 का अर्थान्वयन दंड संहिता की धारा 467 को भी सम्मिलित करने के लिए नहीं किया जा सकता है, इसलिए मजिस्ट्रेट परिवाद का संज्ञान लेने के लिए सक्षम है । इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त करते हुए उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए मत को उलट दिया कि धारा 463 में कूटरचना का अपराध परिभाषित है और धारा 467 में विशिष्ट प्रवर्ग की कूटरचना को दंडित किया गया है, अत: दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) लागू होगी और न्यायालय द्वारा परिवाद फाइल न किए जाने की स्थिति में अभियोजन चलाया नहीं जाएगा । उपर्युक्त **पटेल लालजी भाई** वाले मामले के प्रति संक्षेप में निर्देश करने के उपरांत इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि "उक्त मामले के विनिश्चयाधार से न कि निष्कर्ष" से उनके द्वारा अपनाए गए मत की पुष्टि होती है । इस निर्णय से यह दर्शित नहीं होता है कि धारा 195(1)(ख)(ii) के उपयोजन की इस प्रश्न के संबंध में परीक्षा की गई थी कि क्या अभिकथित कूटरचित रसीद को सिविल वाद आरंभ होने के पहले या बाद में तैयार किया गया था और न ही ऐसा कोई सिद्धांत अधिकथित किया गया कि भले ही सिविल न्यायालय में कार्यवाही के आरंभ के पूर्व कूटरचना की गई हो, वर्जन प्रभावी होगा ।

16. अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा अपने तर्क के समर्थन में **सुरजीत सिंह** बनाम **बलबीर सिंह**[1] वाले मामले का प्रमुख रूप में अवलंब लिया गया । तथ्य जो रिपोर्ट के पृष्ठ 1 और 11 में वर्णित हैं से यह दर्शित है कि प्रत्यर्थी द्वारा भारतीय दंड संहिता की धारा 120-ख के साथ पठित धारा 420, 467, 468, 471 के अन्तर्गत यह अभिकथन करते हुए एक दांडिक परिवाद फाइल किया गया था कि अपीलार्थियों ने षड्यंत्र किया और तारीख 26 जुलाई, 1978 का एक करार जाली बनाया और श्रीमती दलीप कौर के हस्ताक्षर कूटरचित किए और उसके आधार पर उन्होंने घर के कब्जे में बने रहने का दावा किया । मजिस्ट्रेट ने तारीख 27 सितम्बर, 1983 को अपराध का संज्ञान लिया । तत्पश्चात् अपीलार्थियों ने तारीख 9 फरवरी, 1984 को सिविल वाद फाइल किया जिसमें उन्होंने करार को प्रस्तुत किया । यह उल्लेख किया जा सकता है कि दांडिक न्यायालय द्वारा सिविल वाद फाइल किए जाने के बहुत पहले संज्ञान लिया जा चुका था जिसमें करार फाइल किया गया था । चर्चा के दौरान न्यायालय ने न केवल उपर्युक्त **गोपालकृष्ण मेनन** वाले मामले का उल्लेख किया बल्कि उपर्युक्त **पटेल लालजी भाई** वाले मामले को भी व्यापक रूप में उद्धृत किया । तत्पश्चात् **सन्मुख सिंह** बनाम **दि किंग**[2] और **सुशील कुमार** बनाम **हरियाणा राज्य**[3] वाले मामलों के प्रति भी निर्देश किया गया जिनमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि धारा 195 का वर्जन लागू नहीं होगा यदि मूल दस्तावेज को प्रस्तुत नहीं किया गया है या न्यायालय में साक्ष्य नहीं दिया गया है । तत्पश्चात् निर्णय में वह अवतरण (रिपोर्ट का पैरा 10) आता है जिसे हमने अपने निर्णय के पूर्ववर्ती भाग में पुनः प्रस्तुत किया है । इसमें व्यक्त किए गए विचारों के बारे में यह नहीं समझा जाना चाहिए कि उपर्युक्त **पटेल लालजी भाई** वाले मामले में जो अभिनिर्धारित किया गया है उसके विपरीत कुछ अधिकथित किया जा रहा है । अपितु इन विचारों को इस संदर्भ में व्यक्त किया गया है कि धारा 195(1)(ख)(ii) में अन्तर्विष्ट वर्जन तब तक आकृष्ट नहीं होगा जब तक कि मूल दस्तावेज को फाइल नहीं कर दिया जाता है । इसी कारण ठीक अगले पैराग्राफ में यह मत व्यक्त करने के उपरांत कि सिविल वाद फाइल किए जाने और न्यायालय में मूल करार फाइल किए जाने के पहले संज्ञान लिया गया; उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए इस मत को कि मजिस्ट्रेट दांडिक मामले के विचारण की बाबत आगे कार्यवाही कर सकता है मान्य ठहराया गया और अपील को खारिज कर दिया गया ।

[1] (1996) 3 एस. सी. सी. 533.
[2] ए. आई. आर. 1950 प्रिवी कौंसिल 31.
[3] ए. आई. आर. 1988 एस. सी. 419.

17. जैसा कि पहले उल्लेख किया गया पुरातन दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ग) में उल्लिखित शब्दों "किसी न्यायालय में की किसी कार्यवाही के किसी पक्षकार द्वारा" शब्दों का दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) में लोप कर दिया गया है । दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के तत्समान उपबंध में इन शब्दों को क्यों निकाल दिया गया इसका पता विधि आयोग की 41वीं रिपोर्ट से चलता है । उक्त रिपोर्ट के पैरा 15.39 में यह कहा गया है :–

> "15.39. इस धारा का प्रयोजन प्राइवेट अभियोजनों को वर्जित करना है जब न्यायालय की गरिमा और प्रतिष्ठा को कायम रखने के कर्तव्य को न्यायालय पर ही छोड़ते हुए न्याय के दुरुपयोग की ईप्सा की जाए । सिद्धांत के आधार पर ऐसा कोई कारण नहीं है कि खंड (ग) में उपबंधित रक्षोपाय को साक्षियों द्वारा कारित अपराधों पर भी क्यों न लागू किया जाना चाहिए । साक्षियों को भी तंग करने वाले अभियोजनों के विरुद्ध उसी प्रकार संरक्षण की आवश्यकता होती है जिस प्रकार कि पक्षकारों को और न्यायालय का उन साक्षियों जो न्यायिक कार्यवाही के संघटक के रूप में प्रवेश करते हैं के कार्यों पर उतना नियंत्रण होना चाहिए जितना कि पक्षकारों के कार्यों पर । इसलिए, यदि खंड (ग) के उपबंधों का विस्तार साक्षियों को किया जाता है, तो ऐसा विस्तार उन सामान्य सिद्धांतों के अनुरूप होगा जो धारा 195 का आधार हैं ।"

18. चूंकि पुरानी संहिता की धारा 195(1)(ग) में प्रयुक्त "किसी न्यायालय में की किसी कार्यवाही के किसी पक्षकार द्वारा" शब्दों को हटाए जाने का उद्देश्य साक्षी को भी संरक्षण प्रदान करना है, इसलिए पूर्ववर्ती विनिश्चयों में उक्त उपबंध का किया गया निर्वचन ही कायम रहेगा ।

19. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 190 में यह उपबंधित है कि कोई मजिस्ट्रेट (क) उन तथ्यों का जो, ऐसा अपराध गठित करते हैं, परिवाद प्राप्त होने पर (ख) ऐसे तथ्यों की पुलिस रिपोर्ट पर, (ग) पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी व्यक्ति से प्राप्त इस इत्तिला पर या स्वयं अपनी इस जानकारी पर कि ऐसा अपराध किया गया है, किसी भी अपराध का संज्ञान ले सकता है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 इस साधारण उपबंध का एक प्रकार से अपवाद है और यह इसमें प्रगणित कतिपय प्रकार के अपराधों का संज्ञान लेने की न्यायालय की शक्ति का निषेध सृजित करता है । न्यायालय द्वारा परिवाद फाइल किए जाने की प्रक्रिया जो पुरातन दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1) में अनुध्यात है दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 340 में दी गई है । उक्त धारा की उपधारा (1) और (2) को नीचे उद्धृत किया जा रहा है :–

> "**340. धारा 195 में वर्णित मामलों में प्रक्रिया** – (1) जब किसी न्यायालय की, उससे इस निमित्त किए गए आवेदन पर या अन्यथा, यह राय है कि न्याय के हित में यह समीचीन है कि धारा 195 की उपधारा (1) के खंड (ख) में निर्दिष्ट किसी अपराध की, जो उसे, यथास्थिति, उस न्यायालय की कार्यवाही में या उसके संबंध में अथवा उस न्यायालय की कार्यवाही में पेश की गई या साक्ष्य में दी गई दस्तावेज के बारे में किया हुआ प्रतीत होता है, जांच की जानी चाहिए तब ऐसा न्यायालय ऐसी प्रारंभिक जांच के पश्चात् यदि कोई हो, जैसी वह आवश्यक समझे, –
>
> (क) उस भाव का निष्कर्ष अभिलिखित कर सकता है ;
>
> (ख) उसका लिखित परिवाद कर सकता है ;
>
> (ग) उसे अधिकारिता रखने वाले प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट को भेज सकता है ;
>
> (घ) ऐसे मजिस्ट्रेट के समक्ष अभियुक्त के हाजिर होने के लिए पर्याप्त प्रतिभूति ले सकता है अथवा यदि अभिकथित अपराध अजमानतीय है और न्यायालय ऐसा करना आवश्यक समझता है तो, अभियुक्त को ऐसे मजिस्ट्रेट के पास अभिरक्षा में भेज सकता है ; और
>
> (ङ) ऐसे मजिस्ट्रेट के समक्ष हाजिर होने और साक्ष्य देने के लिए किसी व्यक्ति को आबद्ध कर

सकता है ।

(2) किसी अपराध के बारे में न्यायालय को उपधारा (1) द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग, ऐसे मामले में जिसमें उस न्यायालय ने उपधारा (1) के अधीन उस अपराध के बारे में न तो परिवाद किया है और न ऐसे परिवाद के किए जाने के लिए आवेदन को नामंजूर किया है, उस न्यायालय द्वारा किया जा सकता है जिसके ऐसा पूर्वकथित न्यायालय धारा 195 की उपधारा (4) के अर्थ में अधीनस्थ है ।"

20. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 341 में कोई परिवाद किए जाने से मना करने के आदेश के विरुद्ध या कोई परिवाद फाइल किए जाने के निदेश से संबंधित आदेश के विरुद्ध उस न्यायालय में अपील फाइल किए जाने के लिए उपबंध है जिसके वह पूर्ववर्ती न्यायालय धारा 195 की उपधारा (4) के अर्थान्तर्गत अधीनस्थ है और ऐसी अपील में वरिष्ठ न्यायालय परिवाद को वापस लेने या परिवाद किए जाने का निदेश कर सकता है । धारा 343 की उपधारा (2) में यह अधिकथित है कि जब ऐसे मजिस्ट्रेट के जिसको धारा 340 या 341 के अधीन परिवाद किया गया है यह ध्यान में लाया जाए कि उस न्यायिक कार्यवाही में, जिससे वह मामला उत्पन्न हुआ है, किए गए विनिश्चय के विरुद्ध अपील लंबित है, यदि वह ठीक समझे तो, मामले की सुनवाई को किसी भी प्रक्रम पर तब तक के लिए स्थगित कर सकता है जब तक ऐसी अपील विनिश्चित न हो जाए ।

21. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 340 में प्रयुक्त भाषा को दृष्टिगत करते हुए न्यायालय धारा 195(1)(ख) में निर्दिष्ट अपराध किए जाने के संबंध में परिवाद करने के लिए आबद्ध नहीं है क्योंकि इस धारा में इन शब्दों "न्यायालय की यह राय है कि न्याय के हित में यह समीचीन है" की शर्त रखी गई है । इससे यह दर्शित होता है कि ऐसा अनुक्रम केवल तभी अपनाया जाएगा यदि न्याय के हित में ऐसा अपेक्षित हो, प्रत्येक मामले में नहीं । परिवाद फाइल किए जाने के पहले न्यायालय प्रारंभिक जांच कर सकता है और उस प्रभाव का निष्कर्ष अभिलिखित कर सकता है कि न्याय हित में यह समीचीन है कि धारा 195(1)(ख) में निर्दिष्ट किसी अपराध के संबंध में जांच की जानी चाहिए । इस समीचीनता का निर्णय न्यायालय द्वारा सामान्यतः ऐसी कूटरचना या कूटरचित दस्तावेज द्वारा प्रभावित व्यक्ति को हुई नुकसानी की मात्रा का आकलन करने की बजाय उसके प्रभाव या असर को ध्यान में रखते हुए किया जाएगा जो ऐसा अपराध किए जाने से न्याय प्रशासन पर पड़ा । यह संभव है कि ऐसे कूटरचित दस्तावेज या कूटरचना से किसी व्यक्ति को बहुत ही गंभीर या सारवान नुकसान इस अर्थ में हो जिससे वह अत्यंत मूल्यवान संपत्ति या हैसियत या उसी प्रकार की किसी अन्य बात से वंचित हो जाए किंतु ऐसा दस्तावेज पेश किए गए या न्यायालय में दिए गए साक्ष्य का मात्र एक भाग हो सकता है जब न्यायालय में प्रचुर मात्रा में साक्ष्य प्रस्तुत किया गया हो किंतु ऐसे साक्ष्य का प्रभाव न्याय प्रशासन की व्यापक संकल्पना पर न्यूनतम होगा । इन परिस्थितियों में न्यायालय परिवाद किए जाने को न्यायहित में समीचीन नहीं मान सकता है । जैसा कि अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा संयाचन की गई, यदि खंड (ख)(ii) को व्यापक रूप में लिया जाए तो ऐसी कूटरचना या कूटरचित दस्तावेज का पीड़ित व्यक्ति उपचारविहीन हो जाएगा । ऐसे किसी भी निर्वचन को जिससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो कि अपराध का पीड़ित व्यक्ति उपचार विहीन हो जाए अपनाया नहीं जाना चाहिए ।

22. एक और बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 340 की उपधारा (1) में प्रारंभिक जांच किया जाना अनुध्यात है । सामान्यतः परिवाद फाइल किए जाने का निदेश न्यायालय के समक्ष कार्यवाही लंबित रहने के दौरान नहीं दिया जाता है और ऐसा निदेश ऐसे प्रक्रम पर दिया जाता है जब कार्यवाही समाप्त हो जाती है और अंतिम निर्णय दिया जाता है । धारा 341 में परिवाद फाइल किए जाने के निदेश से संबंधित आदेश के विरुद्ध अपील फाइल किए जाने के लिए उपबंध है । अपील की सुनवाई करने और अंतिम विनिश्चय देने में समय लगता है । धारा 343(2) में परिवाद का विचार करने वाले न्यायालय को मामले की सुनवाई स्थगित करने का विवेकाधिकार प्रदान किया गया है यदि उसके ध्यान में यह लाया जाता है कि न्यायिक कार्यवाही, जिससे मामला उत्पन्न हुआ है, में दिए गए विनिश्चय के विरुद्ध अपील लंबित है ।

इन उपबंधों को ध्यान में रखते हुए परिवाद मामला दशकों तक आगे नहीं बढ़ सकता, विशेष रूप से सिविल वादों से उत्पन्न होने वाले मामलों में जब विनिश्चयों को बार-बार अपील न्यायालयों में चुनौती दी जाती है जिसमें समय खर्च होता है । यह उल्लेख भी किया जा सकता है कि धारा 343(2) के अन्तर्गत पारित किसी आदेश के विरुद्ध अपील का कोई उपबंध नहीं है जिसके द्वारा मामले की सुनवाई अपील में विनिश्चय किए जाने तक स्थगित कर दी जाए । इन उपबंधों से यह उपदर्शित होता है कि न्यायालय द्वारा परिवाद फाइल किए जाने के लिए विहित प्रक्रिया वास्तव में ऐसी है कि इसमें असाधारणतः लंबी अवधि तक अपराधी का वास्तविक विचारण फलीभूत नहीं हो सकता है । किसी दोषी व्यक्ति के अभियोजन में विलंब उसके लिए लाभदायक होता है क्योंकि साक्षी साक्ष्य देने से हिचकने लगते हैं और साक्ष्य समाप्त हो जाता है । इस महत्वपूर्ण विचार के कारण हम उस व्यापक निर्वचन को स्वीकार करने को तैयार नहीं है जिसे खंड (ख)(ii) की बाबत लागू करने की ईप्सा की गई है ।

23. धारा 195(1)(ख)(ii) का विस्तृत निर्वचन, जिसके द्वारा उक्त उपबंध द्वारा सृजित वर्जन उस मामले में भी लागू होगा जहां कूटरचना का कार्य किए जाने के उपरांत दस्तावेज को बाद में न्यायालय में पेश किया जाता है और उसका बहुत दुरुपयोग किया जा सकता है । जैसा उपर्युक्त **सच्चिदानंद सिंह** वाले मामले में स्पष्ट किया गया कि कूटरचित दस्तावेज तैयार किए जाने या कूटरचना का कार्य करने के उपरांत व्यक्ति किसी कार्यवाही को स्वयं द्वारा यां अपने द्वारा लगाए गए किसी व्यक्ति द्वारा किसी सिविल, दांडिक या राजस्व न्यायालय में कार्यवाही संस्थित करवा सकता है और उक्त कार्यवाही में दस्तावेज को सरलता से फाइल कर सकता है । इस प्रकार उसे किसी प्राइवेट पक्षकार या पुलिस के कहने पर अभियोजन से उस समय तक संरक्षण प्राप्त होगा जब तक कि वह न्यायालय, जहां दस्तावेज फाइल किया गया है, स्वयं परिवाद को फाइल करने का निर्णय नहीं लेता है । मुकदमेबाजी दीर्घकालिक हो सकती है जिस कारणवश ऐसे व्यक्ति के वास्तविक विचारण में अनिश्चितकाल के लिए विलंब हो सकता है । ऐसा निर्वचन समाज के व्यापक हित के लिए अत्यधिक घातक होगा ।

24. इस तथ्य की न्यायिक अवेक्षा की जा सकती है कि न्यायालय सामान्यतः किसी दांडिक परिवाद फाइल किए जाने का निदेश करने में हिचकते हैं और ऐसा कोई अनुक्रम बिरले ही अपनाया जाता है । ऐसा निर्वचन करना उचित और ऋजु नहीं होगा जिससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जहां खंड (ख)(ii) में उपवर्णित प्रकार के किसी अपराध को अभिकथित रूप से करने वाले व्यक्ति का परिवाद फाइल न किए जाने के कारण विचारण न हो या यदि कोई परिवाद फाइल किया जाता है तो उसकी तर्कसंगत रूप में समाप्ति न हो । ऐसे दृष्टिकोण से निर्णय करना इस सिद्धांत के अनुरूप होगा कि अव्यावहारिक या दुष्कर परिणाम से बचा जाना चाहिए । फ्रांसिस बेन्नियन कृत 'स्टेट्यूटरी इन्टरप्रेटेशन' (तृतीय संस्करण) पैरा 313 में इस सिद्धांत को इस प्रकार वर्णित किया गया है :–

> "न्यायालय किसी अधिनियमिति के ऐसे अर्थान्वयन से बचना चाहता है जिससे अव्यावहारिक या दुष्कर परिणाम निकलें क्योंकि संसद द्वारा ऐसा आशयित किया जाना असंभाव्य है । तथापि, कभी-कभी ऐसे अर्थान्वयन को लागू किए जाने के अध्यारोही कारण होते हैं, उदाहरणार्थ जहां यह प्रतीत हो कि संसद का वास्तव में यह आशय था या शाब्दिक अर्थ अत्यंत प्रबल हो ।"

विद्वान् लेखक ने **शेफील्ड सिटी कौंसिल** बनाम **यार्कशायर वाटर सर्विसेज लिमिटेड**[1] वाले मामले के प्रतिनिर्देश किया है जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है :–

> "संसद का आशय अपनी अधिनियमितियों को अव्यवहार्य या दुष्कर बनने का नहीं होता है, अतः न्यायालय ऐसा अर्थान्वयन करने में संयम बरतेगा जिसके इस प्रकार के परिणाम निकलें । इस मार्ग का अनुसरण करके न्यायाधीशों ने कॉमन विधि विकसित की है ..... इंग्लैंड में कॉमन विधि का विकास

---

[1] (1991) 1 डब्ल्यू. एल. आर. 58.

सदैव कठोर तर्कसंगत आधारों पर नहीं हुआ है और जहां तर्कसंगति से ऐसा मार्ग प्रशस्त हुआ है जो व्यावहारिक कठिनाइयों से परिपूर्ण रहा है, तो न्यायालय हटकर ऐसा व्यावहारिक हल खोजने में पीछे नहीं रहे हैं जिससे समाज की आवश्यकताएं सर्वोत्तम रूप में पूरी हो सकें ।"

25. **एस. जे. ग्रेंजे लिमिटेड** बनाम **सीमा शुल्क और उत्पाद शुल्क आयुक्त**[1] वाले मामले में वित्त अधिनियम, 1972 के उपबंधों का निर्वचन करते हुए लार्ड डेनिंग ने यह मत व्यक्त किया कि यदि शाब्दिक अर्थान्वयन से अव्यावहारिक परिणाम निकले, तो थोड़ा बहुत सामंजस्य करना आवश्यक है ताकि वह धारा व्यावहारिक हो जाए । अतः कूटरचना के अपराध का पीड़ित व्यक्ति अर्थात् व्यथित व्यक्ति अपराधी के विरुद्ध अभियोजन आरंभ करने से संबंधित विधि द्वारा प्रदत्त अपने अधिकार का प्रयोग करने में समर्थ हो सके, यह आवश्यक है कि खंड (ख)(ii) का निर्बंधित निर्वचन किया जाए ।

26. डा. सिंघवी ने यह भी कहा कि हम दांडिक उपबंध पर विचार कर रहे हैं, इसलिए इसका अर्थान्वयन यथेष्ट रूप में किया जाना चाहिए और अपनी इस प्रतिपादना के समर्थन में उन्होंने **तोलाराम रेलूमल** बनाम **मुम्बई राज्य**[2] वाले मामले में संविधान न्यायपीठ द्वारा दिए गए विनिश्चय का अवलंब लिया है जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया कि शास्तिक कानूनों के अर्थान्वयन का यह सुस्थापित नियम है कि यदि किसी शास्तिक उपबंध के दो संभव और युक्तियुक्त अर्थान्वयन किए जा सकते हैं तो न्यायालय को उस अर्थान्वयन को अपनाना चाहिए जो विषय को शास्ति से छूट प्रदान करे बजाय उसके जो शास्ति अधिरोपित करे और न्यायालय विधानमंडल के आशय को कार्यान्वित करने के लिए विधानमंडल द्वारा प्रयुक्त अभिव्यक्ति के अर्थ को विस्तारित करने के लिए सक्षम नहीं है । यह दलील दी गई कि धारा 195(1)(ख)(ii) प्राइवेट अभियोजन से संरक्षण प्रदान करती है, इसलिए इसकी परिधि को कम करने के लिए निर्बंधित निर्वचन नहीं किया जाना चाहिए । हम इस व्यापक प्रतिपादना को जिसकी बाबत निवेदन किया गया स्वीकार करने में असमर्थ हैं । क्रेज आन 'स्टेट्यूट लॉ' (1971 संस्करण - अध्याय 21) में शास्तिक उपबंधों से संबंधित सिद्धांत के बारे में यह कहा गया है :–

> "शास्तिक कानूनों का अर्थान्वयन उन मामलों के अपवर्जन में कानून के शब्दों को जिनमें वे शब्द साधारणतः स्वीकार किए जाते हैं संकुचित करके कभी भी नहीं किया जाना चाहिए .... किन्तु जहां बात को शब्दों और अर्थ के भीतर लाया जाए, वहां शास्तिक अधिनियमिति का अर्थान्वयन किसी अन्य लिखत की भांति उसमें प्रयुक्त भाषा के ऋजु सामान्य अर्थ में किया जाना चाहिए और न्यायालय को शास्तिक कानून की भाषा में कोई संदेह या संदिग्धता नहीं निकालनी या ढूंढनी चाहिए यदि ऐसा संदेह या संदिग्धता किसी अन्य लिखत की वैसी ही भाषा में स्पष्टतः नहीं मिलती या पाई जाती है ।"

27. **ललिता जालान** बनाम **बम्बई गैस कंपनी**[3] वाले मामले में इस प्रश्न की अत्यंत विस्तारपूर्वक परीक्षा की गई और यह अभिनिर्धारित किया गया कि यह सिद्धांत कि किसी अपराध को अधिनियमित या किसी शास्ति को अधिरोपित करने वाले कानून का अर्थान्वयन यथेष्ट रूप में किया जाना चाहिए सर्वव्यापी उपयोजन का नहीं है कि इसका प्रत्येक मामले में आवश्यक रूप से पालन किया जाए । न्यायालय ने **मुरलीधर मेघराज लोया** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[4], **किसन त्र्यम्बक कोथुला** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[5], **पश्चिमी बंगाल सरकार विधिक मामलों के अधीक्षक और परामर्शदाता** बनाम **अवनी मैती**[6] और **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **नटवरलाल दामोदर दास**[7] वाले मामलों के प्रतिनिर्देश करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि शास्तिक उपबंधों

---

[1] (1979) 2 ऑल इंग्लैंड रिपोर्ट्स 91.

[2] [1955] 1 एस. सी. आर. 158.

[3] (2003) 6 एस. सी. सी. 107.

[4] ए. आई. आर. 1976 एस. सी. 1929.

[5] ए. आई. आर. 1977 एस. सी. 435.

[6] ए. आई. आर. 1979 एस. सी. 1029.

[7] ए. आई. आर. 1980 एस. सी. 593.

का अर्थान्वयन ऐसी रीति में किया जाना चाहिए जिससे रिष्टि दूर हो और उस उद्देश्य का संवर्धन हो जो विधानमंडल द्वारा आशयित है ।

28. इसके अलावा यह धारा जिसका निर्वचन करने की हमसे अपेक्षा की गई है, शास्तिक उपबंध नहीं है अपितु प्रक्रियात्मक विधि अर्थात् दंड प्रक्रिया संहिता का भाग है जिसमें दांडिक मामलों के विचारण के लिए प्रक्रिया दी गई है । इस उपबंध में न्यायालय द्वारा परिवाद फाइल किए जाने को छोड़कर कतिपय विनिर्दिष्ट स्थितियों में अपराध का संज्ञान लेने के विरुद्ध केवल वर्जन सृजित किया गया है । शास्तिक कानून ऐसा कानून होता है जिसके आधार पर शास्ति अधिरोपित किए जाने के लिए किसी लोक अधिकारी द्वारा या किसी व्यथित व्यक्ति द्वारा कार्रवाई की जा सकती है और शास्तिक कार्य में व्यापक अर्थ में ऐसा प्रत्येक कानून सम्मिलित होता है जो राज्य के विरुद्ध अपराध सृजित करता है चाहे अपराध की शास्ति की प्रकृति कुछ भी हो । अतः यह सिद्धांत कि किसी शास्तिक कानून का अर्थान्वयन यथेष्ट रूप में किया जाना चाहिए, जैसा कि अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा कहा गया है, इस मामले में बिल्कुल भी लागू नहीं होता है ।

29. अब इस अंतिम दलील पर विचार करते हुए कि सिविल और दांडिक न्यायालयों के मध्य निष्कर्षों के टकराव को टालने के लिए प्रयास किए जाने चाहिएं, यह इंगित करना आवश्यक है कि दोनों कार्यवाहियों में अपेक्षित सबूत का मानदंड पूर्णतया भिन्न है । सिविल वादों का विनिश्चय साक्ष्य की प्रबलता के आधार पर किया जाता है जबकि किसी दांडिक मामले में सम्पूर्ण भार अभियोजन पर होता है और उसमें युक्तियुक्त संदेह से परे सबूत दिया जाना होता है । ऐसा न तो कोई कानूनी उपबंध है और न ही कोई विधिक सिद्धांत है कि किसी एक कार्यवाही में अभिलिखित निष्कर्षों को दूसरी कार्रवाई में अंतिम या आबद्धकर समझा जाए क्योंकि दोनों मामलों का विनिश्चय उनमें प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर किया जाना होता है । पुरानी संहिता की धारा 476 के अन्तर्गत किसी परिवाद को फाइल किए जाने के निदेश से संबंधित आदेश के विरुद्ध अपील में दी गई समान दलील की परीक्षा करते हुए **एम. एस. शेरिफ** बनाम **मद्रास राज्य**[1] वाले मामले में संविधान न्यायपीठ द्वारा की गई इन मताभिव्यक्तियों से इस समस्या का पूर्ण उत्तर प्राप्त होता है :–

> "(15) सिविल और दांडिक कार्यवाहियों की बाबत हमारे विचार में दांडिक मामलों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए । इस बिंदु पर भारत के उच्च न्यायालयों के मध्य कुछ मतभेद हैं । कोई निश्चित मत अधिकथित नहीं किया जा सकता है किन्तु हम नहीं समझते कि सिविल और दांडिक न्यायालयों के विरोधी विनिश्चयों की संभाव्यता सुसंगत विचारणा है । विधि ऐसी किसी संभाव्यता की परिकल्पना करती है जब वह एक न्यायालय के विनिश्चय को दूसरे न्यायालय पर आबद्धकर या सुसंगत न बनाए कतिपय सीमित प्रयोजनों, जैसे कि दंडादेश या नुकसानी, को छोड़कर । इस मामले में एकमात्र सुसंगत विचारणा उलझन की संभाव्यता है ।
>
> (16) एक अन्य कारक जिससे हम प्रभावित हुए यह है कि सिविल वाद बहुधा वर्षों तक लंबित रहते हैं और यह अवांछनीय है कि दांडिक अभियोजन तब तक लंबित रहना चाहिए जब तक कि प्रत्येक संबद्ध व्यक्ति अपराध के बारे में सब कुछ भूल न जाए । लोक हित में यह आवश्यक है कि दांडिक न्याय शीघ्र और निश्चित होना चाहिए ; यह कि दोषी व्यक्ति को जनता की स्मृति में घटनाएं ताजी रहने तक दंडित किया जाना चाहिए और निर्दोष व्यक्ति को ऋजु और निष्पक्ष विचारण के संगत छोड़ा जाना चाहिए । एक और कारण यह है कि यह अवांछनीय है कि घटनाओं को उस समय तक पुरानी पड़े रहने देना चाहिए जब तक कि उनकी यादें इतनी धुंधली न हो जाएं कि उन पर विश्वास करना कठिन हो जाए ।
>
> तथापि, यह निश्चित और पक्का नियम नहीं है । किसी विशिष्ट मामले में उत्पन्न होने वाली

---

[1] ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 397.

विशेष परिस्थितियां किसी अन्य अनुक्रम को अधिक समीचीन और तर्कसंगत बना सकती हैं । उदाहरणार्थ, यह संभव हो सकता है कि कोई सिविल वाद या अन्य दांडिक कार्यवाही समाप्त होने के इतना अतिनिकट हो कि धारा 476 के अन्तर्गत आदेशित अभियोजन को अग्रता प्रदान किए जाने के लिए उसे रोका जाना समीचीन न हो । किन्तु इस मामले में हमारा विचार यह है कि सिविल वादों को उस समय तक रोक दिया जाना चाहिए जब तक कि दांडिक कार्यवाहियां समाप्त न हो जाएं ।"

30. उपर्युक्त चर्चा को दृष्टिगत करते हुए हमारा यह मत है कि उपर्युक्त **सच्चिदानंद सिंह** वाले मामले को ठीक विनिश्चित किया गया है और इसमें अपनाया गया मत सही है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) केवल तब आकृष्ट होगी जब उक्त उपबंध में दिए गए अपराध किसी दस्तावेज को किसी न्यायालय में की किसी कार्यवाही में पेश किए जाने या साक्ष्य में दिए जाने के उपरांत किसी दस्तावेज के संबंध में अर्थात् उस समय जब दस्तावेज विधि की अभिरक्षा में था किया गया ।

31. वर्तमान मामले में विल को न्यायालय में बाद में प्रस्तुत किया गया है । यह किसी का पक्षकथन नहीं है कि धारा 195(1)(ख)(ii) में उपवर्णित कोई अपराध उक्त विल के संबंध में इसे जनपद न्यायाधीश के न्यायालय में प्रस्तुत या फाइल किए जाने के उपरांत किया गया था । अतः, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) द्वारा सृजित वर्जन लागू नहीं होगा और प्रत्यर्थियों द्वारा फाइल किए गए परिवाद के आधार पर अपराध का संज्ञान लेने के लिए न्यायालय की शक्ति पर कोई प्रतिषेध नहीं है । विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश और उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया मत पूर्णतया सही और उसमें किसी प्रकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है ।

32. तदनुसार अपील खारिज की जाती है ।

दांडिक अपील सं. 904/1998

33. परिवादी द्वारा यह अपील मद्रास उच्च न्यायालय के तारीख 6 फरवरी, 1998 के उस निर्णय और आदेश के विरुद्ध की गई है जिसके द्वारा द्वितीय प्रत्यर्थी रामराज द्वारा फाइल किया गया दांडिक पुनरीक्षण आवेदन मंजूर कर लिया गया था और उसे दंड संहिता की धारा 467 और 471 के अन्तर्गत इस आधार पर आरोपों से दोषमुक्त कर दिया गया था कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख)(ii) द्वारा सृजित वर्जन को ध्यान में रखते हुए विद्वान् मजिस्ट्रेट पुलिस रिपोर्ट पर संज्ञान नहीं ले सकता था । अभियोजन के पक्षकथन के अनुसार विक्रय विलेख को पहले कूटरचित किया गया था और तत्पश्चात् उसे सिविल न्यायालय में फाइल किया गया था । पूर्व विवेचित कारणोंवश यह अपील मंजूर की जाती है और उच्च न्यायालय के निर्णय को अपास्त किया जाता है । द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा फाइल किए गए दांडिक पुनरीक्षण आवेदन पर उच्च न्यायालय विधि के अनुसार और नए सिरे से सुनवाई करके उसे विनिश्चित करेगा ।

दांडिक अपील सं. 1069-1070/1998

34. उच्च न्यायालय ने आक्षेपित आदेश में इस न्यायालय के उपर्युक्त **सच्चिदानंद सिंह** वाले मामले में के विनिश्चय का अवलंब लेते हुए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अन्तर्गत अपीलार्थी द्वारा फाइल की गई याचिका को खारिज कर दिया । पूर्व विवेचित कारणों को दृष्टिगत करते हुए इन अपीलों में कोई गुणागुण नहीं है और तदनुसार ये खारिज की जाती हैं ।

अपीलों का तदनुसार निपटारा किया गया ।

शु./मदन